



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2022; 8(1): 81-85

© 2022 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 10-10-2021

Accepted: 22-12-2021

डॉ. ऋतिका

शोधछात्राए संस्कृत विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, नई दिल्ली,
भारत

न्यायसंग्रह तृतीय एवं चतुर्थ वक्षस्कार : एक अध्ययन

डॉ. ऋतिका

प्रस्तावना

विश्व की प्रत्येक भाषा का अपना-अपना व्याकरण है। सामान्य बोल-चाल में बोली जाने वाली भाषा के लिए व्याकरण की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। पुनरपि सभ्य (विद्वत्) समाज में प्रयुक्त होने वाली भाषा के लिए व्याकरण का होना अनिवार्य है। संस्कृत भाषा को स्थिर एवं सुदृढ़ स्वरूप देने का कार्य पाणिनि से पूर्व अनेक प्राचीन वैयाकरणों ने किया लेकिन वे उसमें पूर्णतः सफल न हो सके। पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण की रचना कर संस्कृत भाषा में समय-समय पर होने वाले अनेक परिवर्तनों को रोका एवं भाषा को व्यवस्थित रूप देकर नियमबद्ध किया। कालान्तर में अति संक्षेप में लिखे हुये इन सूत्रों को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए सभी आचार्यों ने कुछ नियमों को उद्धृत किया, जिन्हें परिभाषा नाम दिया गया है।

हेमचन्द्र ने भी अपने पूर्वाचार्यों को आदर्श बनाते हुये अपने व्याकरण की रचना की। हेमचन्द्र ने जहाँ एक ओर शब्दानुशासन, धातुपारायण, लिङ्गानुशासन गणपाठ उणादिपाठ इन खिलपाठों का प्रणयन किया वहीं दूसरी ओर उन्होंने शब्द लक्ष्य को ध्यान में रखते हुये अपनी बृहत्वृत्ति में अनेकों परिभाषाओं (न्यायों) का पाठ भी किया। इन्हीं परिभाषाओं को हैमशब्दानुशासन में न्याय नाम से जाना जाता है। व्याकरणशास्त्र में इष्ट प्रयोगों की सिद्धि करने के लिए एवं अनिष्ट प्रयोगों की सिद्धि को रोकने के लिए सूत्रों की प्रवृत्ति होती है। परिभाषाएँ (न्याय) भी उसी प्रकार इष्ट प्रयोगों में प्रवृत्ति एवं अनिष्ट प्रयोगों की निवृत्ति करती है। कोई भी परिभाषा (न्याय) यदि अनिष्ट रूपों में भी प्रवृत्त होती हो तो उसके निवारण के लिए हेमचन्द्र ने नानिष्टार्थाशास्त्रप्रवृत्ति: ¹ अर्थात् कभी भी शास्त्र की प्रवृत्ति अनिष्ट रूप सिद्धि में नहीं होती है। न्यायसंग्रह 57 न्याय आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं व्याख्यायित किये हैं। इन सभी का संकलन एवं व्याख्या श्रीहेमहंसगणि ने किया है। हैमशब्दानुशासन पर संगृहीत न्यायों में श्रीहेमहंसगणि के द्वारा संगृहीत न्यायसंग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री विजयलावण्यसूरी ने न्यायसंग्रह को आधार बनाकर न्यायसमुच्चय नामकग्रन्थ में इन्हीं न्यायों पर 'न्यायार्थसिन्धु' और 'तरंग' नामक टीकाएँ लिखी हैं।

न्यायसंग्रह की रचना-पद्धति

न्यायसंग्रह चार भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में सूत्रकार श्रीहेमचन्द्रसूरी द्वारा विरचित स्वोपज्ञबृहद्वृत्ति के अन्त में दिये गये 57 न्याय एवं उनकी व्याख्या है। द्वितीय भाग में श्रीहेमहंसगणि द्वारा सिद्धहैमबृहद्वृत्ति, लघुन्यास, बृहन्यास आदि के आधार पर 65 न्यायों का समुच्चय एवं उनका विस्तृत विवेचन है। तृतीय भाग में प्रायः लौकिक न्यायों के आधार पर वाक्यों को संकलित किया गया है। इसमें ज्ञापक आदि की जटिलता को दूर ही रखा गया है। चतुर्थ भाग में समग्र व्याकरणशास्त्र का एवं सम्पूर्ण न्यायशास्त्र (न्यायसंग्रह) का पूरक एक ही न्याय है। जो व्याकरणसूत्रों से निष्पन्न न होने वाले किन्तु शिष्ट साहित्य में कवि आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त अन्यान्य व्याकरण परम्परा में स्वीकृत शब्द आदि की सिद्धि करता है।

Corresponding Author:

डॉ. ऋतिका

शोधछात्राए संस्कृत विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, नई दिल्ली,
भारत

न्याय एवं परिभाषा शब्दों की व्याख्या - श्रीहेमहंसगणि ने न्याय शब्द के स्थान पर परिभाषा शब्द का प्रयोग किया है जबकि अन्य व्याकरणों में परिभाषा शब्द का प्रयोग किया गया है। पाणिनि ने स्वयं परिभाषा शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु वार्तिककार वात्स्यायन ने परिभाषा शब्द का प्रयोग अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययस्य ² सूत्र के चौथे वार्तिक में किया है। हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी टीका में परिभाषा की व्याख्या करते हुये कहा है - परितः सर्वत्र पूर्वत्र परत्र व्यवहिते चानन्तरे च भाष्यते कार्यमनया सा परिभाषा जबकि जयदेव और उनके अनुयायी नव्यन्याय की शैली से परिभाषा की व्याख्या करते हैं - लक्ष्यधार्मिक साधुत्वप्रकारकाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधोपयोगि बोधिजनकत्वं परिभाषात्वम्। महाभाष्यकार कहते हैं परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्व शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत् अर्थात् परिभाषा व्याकरणशास्त्र में केवल एक ही जगह बताई हो तथापि उसका सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र में कहीं भी उपयोग किया जा सकता है।³ न्यायसंग्रह में श्रीहेमहंसगणि ने 'न्याय' शब्द की व्याख्या और सिद्धि बताते हुए कहा है कि इह तु नीयते सन्दिग्धोऽर्थो निर्णयमेभिरिति। न्यायावायाध्यायोद्यावसंहारावहाराधारदार जारम् ⁴ इत्यनेन घञि निपातानन्यायाः स्वेष्टसाधानानुगुणा युक्तय उच्यन्ते।⁵ पाणिनीय परम्परा में भी परिभाषा के अर्थ में न्याय शब्द प्रयुक्त है।⁶ अतः परिभाषा और न्याय दोनों समान ही हैं। यहाँ 'न्याय' शब्द की जो व्याख्या बतायी है, वह केवल व्युत्पत्तिनिमित्तक ही है अर्थात् यहाँ 'न्याय' शब्द केवल रूढ़ परिभाषा के अर्थ में ही प्रयुक्त है।

न्याय (परिभाषा) की आवश्यकता - आचार्यों ने व्याकरण के सूत्रों में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक विषय को बताने का प्रयास किया गया है। इतने पर भी सूत्रों के स्पष्ट अर्थ के लिए, अर्थ का अनर्थ न हो इसके लिए, सन्दिग्ध अर्थ की निवृत्ति के लिए इन न्यायों की आवश्यकता हुयी। न्यायसंग्रह में निर्दिष्ट सभी न्याय प्रायः अनित्य माने गये हैं। यदि अनित्यता न मानी जाये तो न्यायों की तथा उनके अनुसार सूत्रों की अवश्य प्राप्ति होने पर ही अनिष्ट रूपों की सिद्धि होती है।

न्यायों का कार्य - इन न्यायों का मुख्यतया तीन प्रकार का कार्य होता है -

- (1) व्याकरण के सूत्रों के अर्थ स्पष्ट करने में सहायक, यथा - स्व रूप शब्दस्याशब्दसंज्ञा-शब्द के अपने स्वरूप का ही सर्वत्र ग्रहण होता है, यदि वह शब्द किसी संज्ञा के रूप में न हो। निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य - यदि निरनुबन्ध का ग्रहण संभव हो तो सानुबन्ध का ग्रहण नहीं करना चाहिए।
- (2) जब एक ही स्थान पर दो भिन्न-भिन्न सूत्रों की एक साथ प्रवृत्ति हो, तो दोनों में से पहले किसकी प्रवृत्ति हो इसका निर्णय करने में न्याय सहायक होते हैं। यथा - बलबन्धित्यमनित्यात् - अनित्य कार्य से नित्यकार्य बलवान् है। अन्तरङ्गं बहिरङ्गात् - बहिरङ्ग कार्य से अन्तरङ्ग कार्य बलवान् है।
- (3) कुछ न्याय असाधु/अशिष्ट शब्दों की सिद्धि को रोककर साधु व शिष्ट शब्दों की सिद्धि करने में सहायक होते हैं। यथा - नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्याऽपिग्रहणम् - केवल नाम (प्रातिपदिक)

के ग्रहण से स्त्रीत्वादि से विशिष्ट 'नाम' का भी ग्रहण हो जाता है।

प्रस्तुत शोध-लेख में हेमचन्द्र की परम्परा के न्यायसंग्रह को केन्द्र में रखते हुए उनके तृतीय एवं चतुर्थ वक्षस्कार में पढ़े न्यायों का अध्ययन एवं उन न्यायों का पाणिनीय तन्त्र में क्या स्वरूप है, यह उल्लेख किया गया है।

1. यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेः प्रतिषेधः⁷ - सामान्यतया न्यायशास्त्र में इसकी प्रवृत्ति व्यापक है। यह न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है केवल एक विशेष वचन है। जिस विशेषण से विशिष्ट के लिये विभाषा कही गयी हो उसी विशेषण से विशिष्ट का ही प्रतिषेध होता है। यथा- 'विद्वृती लाभे' धातु वेद है अतः 'गमहनविद्वृती...' ⁸ से 'इट्' का निषेध हो जाएगा परन्तु 'विदक् ज्ञाने'⁹ धातु से आये हुए क्त क्तवत् प्रत्यय के परे रहते 'वेतोऽपतः'¹⁰ से इट् का निषेध नहीं होता है किन्तु नित्य ही इट् होता है। उदाहरण- विदितः, विदितवान्। पाणिनीय परम्परा में 'यस्य विभाषा'¹¹ सूत्र के महाभाष्य में यह न्याय एक वाक्य के रूप में उद्धृत है लेकिन परिभाषा के रूप में इसका पाठ नहीं है।
2. यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन सः¹² - जिसका जिसके साथ सम्बन्ध हो, वह उस से दूर होने पर भी मान्य होता है। उदाहरण- अ श्वेन चैत्रः सञ्चरते इत्यादि प्रयोग में अ श्वेन और सञ्चरते के बीच चैत्रः का व्यवधान होने पर भी, तृतीयान्त अ श्वेन पद के साथ ही सञ्चरते का योग माना जाता है, अतः वहाँ समस्तृतीयया ¹² से आत्मनेपद होता है। यह न्याय केवल इतना ही सूचित करता है कि दो शब्दों के बीच किसी भी शब्द का व्यवधान होने पर वह, उसी शब्द के अर्थ द्वारा प्रयुक्त आनन्तर्य सम्बन्ध का नाश नहीं कर सकता है। यह लौकिक न्याय है। पिता-पुत्र, माता-पुत्री का सम्बन्ध दूर होने पर भी बना रहता है। पाणिनीय तन्त्र में यह न्याय नहीं है।
3. येन विना यन्न भवति तत्तस्यानिमित्तस्यापि निमित्तम् ¹⁴- जिसके बिना जो कार्य होता ही नहीं है, वह उसी कार्य का निमित्त नहीं होने पर भी उसका उसी कार्य के निमित्त के स्वरूप में व्यपदेश किया जाता है। जो, जिसके साथ सहचरित ही देखने को मिलता है, किन्तु अकेला देखने को नहीं मिलता है, वह उसी कार्य के लिए निमित्त के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी, उसको निमित्त के रूप में माना जाता है। अतः कदाचित् उसके अभाव में निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः ¹⁵ न्याय से नैमित्तिक रूप कार्य की भी निवृत्ति होती है। धातु का कीर्त् आदेश णिच् के साथ ही देखने को मिलता है। अतः धातु का कीर्त्तिः ¹⁶ से होनेवाला 'कीर्त् आदेश निमित्त होने पर भी, 'णिच्' का उसके निमित्त के रूप में व्यपदेश होता है। अतः प्रयोग में अनित्यो णिच्चुरादीनाम् न्याय से णिच् अनित्य होने से णिच् के अभाव में कीर्त् आदेश भी नहीं होता है। यह न्याय पाणिनीय परिभाषाओं में पठित नहीं है।
4. नामग्रहणे प्रायेणोपसर्गस्य न ग्रहणम् ¹⁷ - नाम के ग्रहण से प्रायः उपसर्ग का ग्रहण नहीं होता है। उपसर्ग भी एक प्रकार का नाम ही कहा जाता है अतः उसकी प्राप्ति का निषेध इसमें कहा है। उपस्पृशति प्रयोग में उप उपसर्ग स्वरूप नाम के पर में स्पृश् धातु होने पर भी स्पृशोऽनुदकात् ¹⁸ सूत्र से क्विप् नहीं होता है, अतः

उपस्पृक् प्रयोग उचित नहीं माना जाता है। यहाँ न्याय में प्रायेण शब्द रखा है, वह ऐसा सूचित करता है कि क्वचित् नाम के ग्रहण से उपसर्ग का भी ग्रहण होता है। उदा. अर्द्ध भजति अर्द्धभाक् प्रयोग में जैसे अर्द्ध नाम से पर में आये हुए भज् धातु से भजो विण्¹⁹ विण् प्रत्यय हुआ है वैसे प्रभाक् प्रयोग में भी प्र उपसर्ग को नाम मानकर भजो विण्²⁰ से विण् प्रत्यय होगा और प्रभाक् रूप सिद्ध होगा। पाणिनीय व्याकरण में यह न्याय स्वीकार्य नहीं है।

5. सामान्यातिदेशे विशेषस्य नातिदेशः²¹- सामान्य का अतिदेश हुआ हो तो विशेष का अतिदेश नहीं होता है। अन्यत्र प्रसिद्ध अर्थ का अन्यत्र कथन करना है या किसी एक पदार्थ के धर्म या लक्षण का अन्य में आरोपण करना अतिदेश कहा जाता है। सामान्य धर्म सदैव व्यापक होता है जबकि विशेष धर्म व्याप्य होता है। यह लोकव्यवहार सिद्ध न्याय है। क्योंकि लोक में जब मनुष्य में 'पशुत्व' स्वरूप सामान्य का अतिदेश होता है तब वहाँ उसके गोत्व शृङ्गीत्व आदि स्वरूप विशेष धर्म का अतिदेश नहीं होता है। पाणिनीय व्याकरण में यह न्याय सामान्यातिदेशे विशेषाऽनतिदेशः²² पढ़ा है।
6. सर्वत्रापि विशेषेण सामान्यं बाधते, न तु सामान्येन विशेषः²³ - सर्वत्र विशेष शास्त्र द्वारा सामान्य शास्त्र का बाध होता है किन्तु सामान्य शास्त्र द्वारा विशेष शास्त्र का बाध नहीं होता है। विशेषशास्त्र, सामान्यशास्त्र का व्याप्य है और सामान्यशास्त्र, विशेषशास्त्र का व्यापक है अर्थात् सामान्य और विशेष में व्यापक व्याप्य सम्बन्ध है। पाणिनीय तन्त्र में यह उत्सर्ग अपवाद विधि के नाम से प्रसिद्ध है। क्योंकि उत्सर्ग सामान्यविधि है और अपवाद विशेषविधि है।
7. डित्वेन कित्त्वं बाधते²⁴ - 'डित्व' के द्वारा 'कित्व' का बाध होता है। जब एक ही स्थान पर कित्व और डित्व स्वरूप धर्म प्राप्त हो तो डित् निमित्तक कार्य किया जायेगा। यह बलाबलोकित न्याय पाणिनीय तन्त्र में यह न्याय स्वीकार नहीं किया गया है अपितु कहीं कित्व का डित्व से बाध इष्ट भी हो तो वहाँ पर येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति²⁵ से काम करते हैं। भाष्यकार ने भी कित्व का डित्व से बाध उचित नहीं माना है। क्योंकि दोनों प्रत्यय के आने पर गुण निषेध होता है। दोनों का समान कार्य है।
8. परादन्तरङ्गं बलीयः²⁶ - पर कार्य से अन्तरङ्ग कार्य बलवान् होता है। श्रीहेमहंसगणि²⁷ अपनी व्याख्या में कहते हैं यद्यपि परान्नित्यम् नित्यादन्तरङ्गम् इन दोनों से ही इस न्याय का अर्थ प्राप्त है क्योंकि 'पर' कार्य से नित्यकार्य बलवान् है और नित्य कार्य से अन्तरङ्ग कार्य बलवान् है। हेमचन्द्र ने 'परात्रित्यम्' और 'नित्यादन्तरङ्गम्' बृहद्वृत्ति और बृहन्यास में भी पढ़ी है। इस कार्य के लिए पाणिनीय तन्त्र में पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः परिभाषा उपलब्ध है।²⁸
9. प्रत्ययलोपेऽपि प्रत्ययलक्षणं कार्यं विज्ञायते²⁹- प्रत्यय का लोप होने पर भी उसी प्रत्यय का निमित्तक कार्य होता है। लुक् और लुप् दोनों का वाचक लोप शब्द है, तथापि लुक् में स्थानिवद्भाव से कार्य सिद्ध हो जाता है। अतः लुप् में इस न्याय का अधिकार

आता है अर्थात् यहाँ लोप शब्द से लुप् का ग्रहण करना। पाणिनि ने यह कार्य सूत्र के द्वारा सिद्ध किया है।³⁰

10. विधिनियमयोर्विधिरेव ज्यायान्³¹- विधि और नियम में से विधि ही श्रेष्ठ है। सूत्र की व्याख्या के दो प्रकार हैं- (1) विधिरूप व्याख्या- विधि अर्थात् जहाँ पूर्णरूप से प्राप्ति न हो, वहाँ प्राप्ति करना (2) नियमरूप व्याख्या- नियम अर्थात् पाक्षिक या विकल्प से प्राप्ति हो वहाँ नित्य प्राप्ति कराना या अन्य सामान्य सूत्र से होनेवाले विधिप्रदेश में से कुछ मर्यादित प्रदेश में उसकी प्राप्ति का पुनः कथन करके, उसी मर्यादित प्रदेश को छोड़कर अन्य शेष प्रदेश में उसी कार्य की अप्राप्ति करना नियम कहा जाता है। अतः जहाँ सूत्र का विधिपरक-नियमपरक ऐसे दोनों अर्थों की सम्भावना हो वहाँ विधिपरक अर्थ ही श्रेष्ठ है। इस न्याय के लिए पाणिनीय तन्त्र में विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्³² का पाठ है।
11. अनन्तरस्यैव विधिर्निषेधो वा³³- अनन्तर सूत्र सम्बन्धित ही विधि या निषेध होता है। इसमें निषेध इस प्रकार है- नाम्नो नोऽनहः³⁴ सूत्र से नाम सम्बन्धित पदान्त न का लोप होता है। उसका ही, बाद में आये हुए नामन्ये³⁵ सूत्र से निषेध होता है किन्तु व्यवहित रात्सः³⁶ सूत्र से विहित सकार-लुक् का निषेध नहीं होता है। इस न्याय के लिए पाणिनीय तन्त्र में अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा³⁷ परिभाषा पढ़ी है अर्थात् जिसमें कुछ अन्तर न हो अर्थात् जो अत्यन्त समीप हो, उस विधि का निषेध होता है, दूरस्थ का नहीं।
12. पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः³⁸- पर्जन्य= बारिश की तरह लक्षण (सूत्र) की प्रवृत्ति होती है। जैसे बारिश सूखे स्थान और तालाब दोनों पर समान रूप से बरसती है वैसे ही व्याकरण में सूत्र स्वयं विषय को प्राप्त करके सर्वत्र प्रवृत्त होता है, इसका कुछ भी फल न मिलता हो तो भी। इको झल्³⁹ सूत्र के महाभाष्य में आचार्य पतञ्जलि ने किञ्चित् परिवर्तन से इसे कहा है⁴⁰ दीर्घ का भी दीर्घ करने का क्या फल है? उत्तर में कहते हैं गुण न हो जाये वहाँ गुणाभाव कालान्तर भावि फल है। दीर्घ में तत्कालीन कोई अन्तर नहीं पड़ता है। पाणिनीय तन्त्र में परिभाषा के रूप में भी इसकी उपलब्धि है।⁴¹
13. न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या⁴²- केवल प्रकृति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पाणिनीय व्याकरण में यह न्याय परिभाषा के रूप में वर्णित नहीं है लेकिन पाणिनीय व्याकरण में मूल शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं। बिना पूरा पद या रूप बनाये किसी भी मूल शब्द (प्रातिपदिक या धातु) का वाक्य में प्रयोग नहीं किया जाता है इसके लिए संस्कृत वैयाकरणों ने स्पष्ट निर्देश दिये हैं- नाविभक्तिकं पदं प्रज्युजीत अर्थात् विभक्ति रहित पद का प्रयोग भाषा में नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार भाष्यकार पतञ्जलि ने भी न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः न तो केवल प्रकृति (मूल शब्द प्रातिपदिक या धातु) का प्रयोग करना चाहिए न ही केवल प्रत्यय (सुप् तिङ्) आदि का प्रयोग करना चाहिए।
14. क्विबर्थं प्रकृतिरेवाह⁴³- प्रकृति स्वयं क्विप् के अर्थ को कहती है। हेमचन्द्र के मोर्वा⁴⁴ सूत्र की बृहद्वृत्ति में यह न्याय उपलब्ध होता है। इसके द्वारा हेम ने युष्मि, अस्मि, त्वि, म्यि, त्वे, मे,

- त्वस्मिन्, मस्मिन् शब्द सिद्ध किये हैं। इस प्रकार से कार्यसिद्धि केवल हेम व्याकरण में ही मिलती है। पाणिनीय व्याकरण में इन शब्दों की सिद्धि के लिए क्विप् प्रत्यय की आवश्यकता नहीं है।
15. द्वन्द्वात्परः प्रत्येकमभिसम्बन्धयते: ⁴⁵ - द्वन्द्व समास के अन्त में आये हुये शब्द का पूर्व के प्रत्येक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है। यथा- एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुता: ⁴⁶ में मात्रा शब्द एक, द्वि, त्रि तीनों के साथ जुड़ा है। एकद्वित्रि में द्वन्द्व समास है। इस न्याय के परः शब्द को उपलक्षण के स्वरूप में लेना चाहिए, द्वन्द्वसमास के पूर्व में आये हुए शब्द का भी द्वन्द्वसमासगत प्रत्येक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है। उदा. द्रेरजणोऽप्राच्यभर्गादेः ⁴⁷ सूत्रगत अप्राच्यभर्गादेः में आये हुए अ (नञ्) का प्राच्य और भर्गादि दोनों के साथ सम्बन्ध है। यह न्याय परिभाषा के रूप में पाणिनीय तन्त्र में उद्धृत नहीं है लेकिन द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रुमामाणं पदं प्रत्येकम् अभिसम्बन्धयते इस व्युत्पत्ति से कार्य होता है। जिसका अर्थ है द्वन्द्व समासगत प्रत्येक शब्द का सम्बन्ध पूर्वोक्त शब्द के साथ होता है।
16. विचित्रा शब्दशक्तयः ⁴⁸ - शब्द की शक्ति विचित्र होती है। अतः लिंग, संख्या इत्यादि में विचित्रताएँ दिखायी पड़ती हैं, यही बताने के लिए यह न्याय है। उसमें लिंग की विचित्रता इस प्रकार है - उदा. प्रशस्तं पचति अर्थ में त्यादे ऋच प्रशस्ते रूपम् ⁴⁹ सूत्र से स्वार्थ में रूपम् प्रत्यय होगा, तब पचतिरूपम् इत्यादि में पदं वाक्यमव्ययं चेत्यसङ्ख्यं च ⁵⁰ इत्यादि लिङ्गानुशासन के पाठ से लिङ्ग रहित त्याद्यन्त पद को भी नपुंसकलिङ्ग होता है। कुत्सिता स्वा ज्ञातिः अर्थ में स्वार्थिक क प्रत्यय होने पर स्वज्ञाजभस्त्राधातुत्ययकात् ⁵¹ से आप् प्रत्यय होगा और अ का इ होकर स्विका शब्द बनेगा। यहाँ कामलकुदालावयवस्याः ⁵² पाठ से ज्ञाति अर्थवाले पुल्लिङ्ग स्व शब्द को भी जब कुत्सित अर्थ की विवक्षा होगी तब वाक्य अवस्था में कप् प्रत्यय होने के बाद स्त्रीलिङ्ग माना जाता है। ह्रस्वा कुटी प्रयोग में कुटीशुण्डाद्रः ⁵³ से कुटी शब्द से स्वार्थ में र प्रत्यय होगा तब कुटीरः और कुटीरम् होगा। यहाँ कुटी शब्द लिङ्गानुशासन के लालसोरभसो वर्तिवितस्तिकुट्यस्त्रुटिः ⁵⁴ वचन से पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग होने पर भी स्वार्थिक र प्रत्ययान्त कुटीर शब्द पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में माना जाता है। वनं वनिका यहाँ वन शब्द नान्त होने से नलस्तुक्तसंयुक्तः ⁵⁵ पाठानुसार नपुंसकलिङ्ग होने पर भी स्वार्थ में कप् प्रत्यय होने पर वह स्त्रीलिङ्ग हो जायेगा। पाणिनीयतन्त्र में यह न्याय परिभाषा के रूप में नहीं पढ़ा गया है लेकिन स्त्रियाम् ⁵⁶ सूत्र के महाभाष्य में इसके बारे में विस्तार से चर्चा की गयी है।
17. किं हि वचनान्न भवति ⁵⁷ - वचन से क्या सिद्ध नहीं होता है? अर्थात् सब सिद्ध हो सकता है। व्याकरणशास्त्र में सूत्रों के माध्यम से ही लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है। ये सूत्र आचार्यों के अपने वचन कहलाते हैं। सूत्रों में लघुता के कारण अनेक बार अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता जिसके लिए आचार्यों के विशेष वचन एवं ज्ञापक इत्यादि से कार्य करना होता है।
18. न्यायाः स्थविरयष्टिप्रायाः ⁵⁸ - 'न्याय' बूढ़े की लकड़ी जैसे हैं।

जैसे वृद्ध पुरुष गमन आदि के लिए लकड़ी दण्ड (छड़ी) का आलम्बन करता है, किन्तु जब गमन आदि कार्य न हो तब नहीं करता। उसी प्रकार से ये न्याय भी शिष्ट प्रयोग की अन्यथा अनुपपत्ति होती हो तो, उसकी निवृत्ति के लिए ही है अन्यथा न्यायों का उपयोग नहीं है। इस न्याय के लिए पाणिनीय तन्त्र में यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् परिभाषा का पाठ किया गया है। ⁵⁹

श्रीहेमहंसगणि जी ने चतुर्थ वक्षस्कार में केवल एक न्याय का संग्रह किया है -

1. शिष्टानामनिष्पत्तिप्रयोगधातूनां सौत्रत्वलक्ष्यानुरोधाद् वा सिद्धिः ⁶⁰ - चतुर्थ वक्षस्कार में श्रीहेमहंसगणि जी ने एक ही न्याय का संग्रह किया है। पूर्व बताए 18 न्यायों के सदृश यह एक न्याय विस्तृत रूप से वर्णित होने के कारण अलग पढ़ा है। जिसका अर्थ है- 'शिष्ट' अर्थात् शेष बचे हुए, जिसकी व्याकरण से व्याख्या नहीं की गयी है ऐसे 'नाम' 'निष्पत्ति' अर्थात् व्युत्पत्ति, 'प्रयोग' और 'धातुओं' की सिद्धि 'सौत्रत्व' से अर्थात् व्याकरण इत्यादि के सूत्र में निर्दिष्ट होने से या 'लक्ष्यानुरोध' से लक्ष्य-महाकवियों के प्रयोग अनुसार ज्ञातव्य है। यहाँ 'सिद्धिः' शब्द ⁶¹ अन्त में मङ्गल के लिए है। आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण में जितनी भी सम्भावनाएँ है उतनी लक्ष्य, स्वरूप, नाम इत्यादि के द्वारा अपने व्याकरणशास्त्र में सम्मिलित की हैं। तथापि नाम इत्यादि अनन्त होने से उन सबको व्याकरणशास्त्र में सम्मिलित करना प्रायः असम्भव है। अतः शेष बचे हुये नाम, निष्पत्ति, प्रयोग, धातु इत्यादि जो साक्षात् सूत्र में नहीं बताए हैं उनका संग्रह करने के लिए यह न्याय है। यह न्याय पाणिनीय व्याकरण में परिभाषा के रूप में पठित नहीं है। लेकिन शब्दानुशासन की मर्यादा बताते हुए महाभाष्यकार भी कहते हैं कि एवं हि श्रूयते- बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। ⁶² इस न्याय के अन्त में सिद्ध शब्द मङ्गल के लिए है। मङ्गल के लिए पतञ्जलि कहते हैं कि मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते। ⁶³ ग्रन्थ के आदि में, मध्य में, अन्त में मंगल करना शिष्टपुरुषों का आचार है। यह न्याय केवल न्यायसंग्रह के शेष अंश का ही पूरक नहीं है किन्तु संपूर्ण शब्दशास्त्र के शेष अंश का पूरक है। प्रायः सभी प्रकार के प्रयोगों की सिद्धि हेमचन्द्र ने करने का प्रयास किया है। किसी विषय में अपने द्वारा अप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग के साधुत्व के बारे में आशंका हो तो उसे दूर करने के लिए इस न्याय का आश्रय लिया गया है।

इस प्रकार हेमशब्दानुशासन पर उपलब्ध तृतीय एवं चतुर्थ वक्षस्कार का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि श्रीहेमहंसगणि ने हेमचन्द्र द्वारा 57 न्यायों में कुछ न्यूनता का अनुभव करते हुये व्याकरणशास्त्र को समृद्ध बनाने के लिए ही इन न्यायों का संग्रह किया है। हेमशब्दानुशासन लोक में प्रचलित तत्कालीन भाषाओं को ध्यान में रखकर लिखा गया है उन्हीं लौकिक न्यायों को देखते हुये हेमहंसगणि ने इन न्यायों में लौकिक न्याय मुख्य रूप से दिये हैं।

पाद-टिप्पणी

1. न्यायसंग्रह, 1/57, न्यायार्थमञ्जूषाबृहद्वृत्ति, हेमचन्द्रसूरी, श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, 7, तृतीय भोयवाडा, भूलेश्वर, मुम्बई-02, वि.सं. 2038, पृ. 2
2. अष्टाध्यायी 1/1/69, पाणिनि, सम्पा. श्रीमती पुष्पा दीक्षित, संस्कृतभारती, माता मन्दिर गली, झण्डेवालान, नई दिल्ली, 2010.
3. महाभाष्यम् 2/1/1, पतञ्जलि, सम्पा. शास्त्री भार्गव, प्रका. चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहरनगर, दिल्ली, 1988
4. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 5/3/134, हेमचन्द्र सूरी, सम्पा. मुनि जम्बूविजय, प्रका. श्रीहेमचन्द्राचार्यजैनज्ञानमन्दिरम्, पाटण, गुजरात, 1994.
5. न्यायसंग्रह, पृ. 2
6. वरदेश्वरयज्वानं, नीलकण्ठेन यज्वना।
नमस्कृत्य सतां प्रीत्यै, शब्दन्यायो विविच्यते॥
नीलकण्ठदीक्षितविरचिता परिभाषावृत्ति 'परिभाषासंग्रह', पृ. 293
7. न्यायसंग्रह 3/1
8. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 4/4/83
9. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 4/4/62
10. अष्टाध्यायी 7/2/15
11. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 5/1/149
12. न्यायसंग्रह 3/2
13. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 3/3/32
14. न्यायसंग्रह 3/3
15. न्यायसंग्रह 1/29
16. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 4/4/122
17. न्यायसंग्रह 3/4
18. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 4/1/149
19. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 5/1/146
20. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 5/1/146
21. न्यायसंग्रह 3/5
22. पारिभाषिकम् 89, आचार्य प्रद्युम्नः, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, रेवली, हरियाणा, 2001
23. न्यायसंग्रह 3/6
24. न्यायसंग्रह 3/7
25. पारिभाषिकम् 51
26. न्यायसंग्रह 3/8
27. स्वोपज्ञान्यायार्थमञ्जूषानाम्नी बृहद्वृत्ति। न्यायसंग्रह, पृ. 113
28. पारिभाषिकम् 39
29. न्यायसंग्रह 3/9
30. अष्टाध्यायी 1/1/61
31. न्यायसंग्रह 3/10
32. पारिभाषिकम् 114
33. न्यायसंग्रह 3/11
34. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 2/1/91
35. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 2/1/92
36. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 2/1/90
37. पारिभाषिकम् 54
38. न्यायसंग्रह 3/12
39. अष्टाध्यायी 1/2/9
40. दीर्घानामपि दीर्घवचनं एतत्प्रयोजनं गुणो मा भूदिति। कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत्। तद्यथा- पर्जन्यो यावदूनं पूर्णं च सर्वमभिवर्षति। महाभाष्यम्, भाग-2, पतञ्जलि, सम्पा. शास्त्री भार्गव, प्रका. चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहरनगर, दिल्ली, 1988, पृ. 9
41. पर्जन्यवदिह लक्षणप्रवृत्तिः। पारिभाषिकम् 132
42. न्यायसंग्रह 3/13
43. न्यायसंग्रह 3/14
44. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 2/1/9
45. न्यायसंग्रह 3/15
46. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 1/1/5
47. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 6/1/123
48. न्यायसंग्रह 3/16
49. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 7/3/10
50. श्रीहैमलिङ्गानुशासनम् 4-2, हेमचन्द्रसूरी, श्रीविजयक्षमाभद्रसूरीः, निर्णय सागर मुद्रणालय, मुम्बई, 1940
51. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 2/4/108
52. श्रीहैमलिङ्गानुशासनम् 14/1
53. श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् 7/3/47
54. श्रीहैमलिङ्गानुशासनम् 9/2
55. श्रीहैमलिङ्गानुशासनम् 1/1
56. महाभाष्यम् 4/1/3, भाग-4, पृ. 16
57. न्यायसंग्रह 3/17
58. न्यायसंग्रह 3/18
59. पारिभाषिकम् 3
60. न्यायसंग्रह 4/1
61. अथ पूर्वदर्शित...प्रतन्यते। न्यायसंग्रह, पृ. 120
62. महाभाष्यम्, पस्पशाह्निक, भाग-1, पृ. 58
63. महाभाष्यम् 1/1/1, भाग-1, पृ. 165